Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2019 GISRRJ | Volume 2 | Issue 4 | ISSN : 2582-0095

संस्कृत वाङ्मय में आश्रम

डॉ. नंदिता मिश्रा
असिस्टेंट प्रोफेसर,संस्कृत विभाग, जवाहर लाल नेहरू स्मारक पी.जी, कॉलेज, महाराजगंज, उत्तर प्रदेश

सारांश– ऋषियों के आश्रम तपोवन ही उपयुक्त होते थे। जो शिक्षा के भी केन्द्र होते थे। परन्तु प्रत्येक के लिए गुरु के आश्रम में जाकर विद्या प्राप्त करना अनिवार्य नहीं था। कहीं–कहीं पिता भी पुत्र को शिक्षा देता था। जैसे– दिलीप ने रघु को धनुर्विधा की शिक्षा की थी। पति–पत्नी को भी शिक्षा दिया करता था। इन्दुमती ने ललित कलाओं की शिक्षा अज से प्राप्त की थी।

मुख्यशब्द–संस्कृत, वाङ्मय, आश्रम, तपोवन, ऋषि, शिक्षा, गुरु।

आश्रम शब्द का अर्थ– भारतीय परम्परा, सामाजिक सुव्यवस्था, संतुलन, एकता और सङ्घटन पर आधारित है। इसमें वर्ण–व्यवस्था का जितना महत्त्व है, उसी प्रकार 'आश्रम–व्यवस्था' भी महत्त्वपूर्ण है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष– इन पुरुषार्थ–चतुष्टयों की पूर्त्ति के लिए, आश्रम में, इनका पृथक–पृथक् विभाग कर दिया गया है। अतः आश्रम चार माने गये हैं। यद्यपि आश्रम शब्द मुनियों के निवास–स्थान वन–मठादि तथा वानप्रस्थाश्रम के लिए भी प्रयुक्त होता आया है[1] तथापि हम आश्रम शब्द से भारतीय–संस्कृति में अभीष्ट ब्रह्मचर्यादि आश्रमों को ही वर्ण्य–विषय का अङ्ग मानते हैं। **''आश्रमन्ति स्वं–स्वं तपश्चरन्ति अत्र''** अथवा ''आ=समन्तात् श्रमो अत्र इति आश्रमः'' इस व्युत्पत्ति के आधार पर आश्रम शब्द कठिन परिश्रम से अपने जीवन के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जीवन–यात्रा के लिए गए चारों विभागों का बोधक है। स्मृतियाँ, श्रुति के ही अर्थ की व्याकृति हैं।[2] इस दृष्टि से स्मृति प्रतिपादिता ये चार आश्रम वैदिक काल[3] से ही देखे जाते हैं– जो ब्रह्मचर्याश्रम, गार्हस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा सन्न्यासाश्रम के नाम से प्रसिद्ध हैं। अमर सिंह ने इन्हें ही क्रमशः ब्रह्मचारी, गृही, वानप्रस्थ और भिक्षु कहा है।[4]

आश्रम के सम्बन्ध में महाकवि कालिदास की धारणा भी उपर्युक्त ही है। इनकी दृष्टि में गृहस्थाश्रम बहुत महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने इसे सर्वोपका–क्षमम् कहा है।[5]

मनुष्य जीवन के लक्ष्य–धर्म, अर्थ और काम इन तीनों को कवि ने समान महत्त्व दिया हैं। किन्तु धर्म रहित कामादि को वे उतना महत्त्व दिया हैं। किन्तु धर्म रहित कामादि को वे उतना महत्त्व नहीं देते। पार्वती से शंकर ने इस रहस्य को उसकी तपश्चर्या के महत्त्व को मानते हुए व्यक्त किया है।[6]

मनोवैज्ञानिक आधार पर यदि विश्लेषण किया जाय तो मानव–जीवन–यात्रा की गाड़ी को अपने परम लक्ष्य, परम श्रेय या परम मोक्ष तक पहुँचने के लिए जीवन को चार आश्रमों में बाँटना अत्यावश्यक है। इस प्राचीन व्यवस्था में यह ध्यान रखा गया है कि मानव की मूल–प्रवृत्तियाँ दबायी न जायें। क्योंकि दबायी जाने पर मूल–प्रवृत्तियाँ प्रतिक्रियाएँ करती हैं और असाध्य रोग आदि को उत्पन्न करती हैं। अतः युवावस्था में विवाह, भोग–विलास और काम (विषय से तृप्ति) आवश्यक हैं। इस दृष्टि से गृहस्थाश्रम में पूर्ण इन्द्रिय–सुख प्राप्त कर लेने के बाद ही वानप्रस्थाश्रम आदि का विधान किया गया है। गीता में भी ''मूल प्रवृत्तियों के दबाये जाने पर भी भावानात्मक रस नहीं दब पाते'' कहकर उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि की है।[7]

आश्रमों की नींव इसी मनोवैज्ञानिक आधार पर पड़ी दीख पड़ती हैं। ब्रह्मचर्याश्रम में ज्ञानार्जन होता है तो युवावस्था में गृहस्थाश्रम में जाकर सांसारिक सुख प्राप्त करता है और वानप्रस्थाश्रम में शनैःशनैः सांसारिक मोहां से अपने मन को हटाकर ईश्वरोन्मुख करता है और तब अन्ततः संन्यासाश्रम में सांसारिक माया–मोह, भोग–विलास को त्यागकर मोक्ष मार्ग में तल्लीन हो जाता है।

महाकवि कालिदास की आस्था इसी सिद्धान्त पर है। उन्होंने आयु के चार विभाग किये– शैशव, यौवन, वार्धक्य और अन्त। इनमें शैशव ''जो ब्रह्मचर्याश्रम का प्रतिनिधित्व करता है'' को विद्याभ्यास के लिए उपयुक्त माना, विषय से इन्द्रियों की तृप्ति के लिए– यौवन को गृहस्थाश्रम का प्रतीक समझा, वानप्रस्थाश्रम के रूप में– मुनिवृत्ति से जीवन निर्वाह की अवस्था को वार्घक्य माना और अन्तिम अवस्था को संन्यासश्रम के लिए उपयुक्त समझकर योगाभ्यास के लिए उपयुक्त ठहराया।[8] इस प्रकार इन्होंने इन आश्रमों को प्रथम, द्वितीय आदि शब्दों से ही व्यवहृत किया। इस प्रकार– उन्होंने ब्रह्मचर्याश्रम के लिए प्रथमाश्रम[9], गृहस्थाश्रम के लिए द्वितीयाश्रम[10] तथा संन्यासाश्रम

आज की जीवन–यात्रा अनेक कष्ट और व्याधि से ग्रस्त अकालमृत्यु तक देने वाली भार–स्वरूप है। भगवान् मनु ने आज से कई सहस्र–वर्ष पूर्व आज की दुर्गति का अनुमान कर अकाल मृत्यु के चार–कारण निर्दिष्ट कर दिये थे–

1. वेदों का अभ्यास न करना,
2. आचार छोड़ देना,
3. आलस्य और
4. अन्न का दोष।[11]

हमें इतिहासों एवं पुराणों से पता चलता है कि हमारे इस आनन्द कानन भारत जैसे पुण्य–क्षेत्र में अकाल – मृत्यु जैसी दुष्ट लता का अङ्कर तक भी देखने सुनने में न आता था। यहाँ तो सब मनुष्य समृद्धशाली, पराक्रमशाली हृष्ट–पुष्ट, सुन्दर, विद्वान् एवं नित्य आनन्दमय होते थे। देवता लोग भी यहाँ के

सुखों के लिए लालायित रहते थे। अतएव वे यहाँ का जीवन जीन के लिए, आश्रमों में अपने को ढ़ालने के लिए, भारत में जन्म लेने के लिए ललचाये रहते थे।[12]

आज ये सब बीते स्वप्न के बड़बड़ाहट लगते हैं। विश्वास नहीं होता कि क्या ऐसा भी सम्भव हैं मृत्यु की ओर दृष्टिपात करने पर लगता है कि उस पिशाचिनी का पञ्जा सभी देश, सभी नगर, ग्राम–ग्राम और प्रत्येक घर में जमा हुआ है। पुत्रों के वियोग में एक ओर पिता तड़प रहे हैं, तो दूसरी ओर बाल–विधवाओं का करुण–क्रन्दन आकाश को फाड़ रहा है। प्लेग–हैजा आदि जन–पद–ध्वंस रोग एक–पर–एक नित्य नये–नये रूप में अपना घर बना रहे हैं। जो आज जीते हैं; वे मरे हुओं से भी गये–बीते हैं। पैदा होते ही कैसे–कैसे रोग होते जा रहे हैं ''चालनी–न्याय'' (जैसे–हिलती–डोलती–चलनी को चूर्ण से भरने के प्रयास में– होता यह है कि एक ओर जब तक मरते हैं; तब तक दूसरी ओर का चूर्ण नीचे गिर जाता है। पुनः दूसरी ओर भरने पर एक ओर का चूर्ण नीचे आ जाता है। फलतः चलनी को चूर्ण से भरना अशक्य हो जाता है) उसी प्रकार एक रोग का समाधान हो नहीं पाता कि अन्य अनेक नये रोग उत्पन्न होते जा रहे हैं। बल–बुद्धि का कहीं पता नहीं, बालकों के भी मुख–कमल झुर्रियों से जकड़े नजर आते हैं। धीरे–धीरे इतना ह्रास हुआ है कि आने–वाली पीढ़ी के लिए ''एक–एक हाथ के शरीर वाले लोग होंगे'' जैसी भविष्य–वाणियाँ भी अब सत्य ही समझ में आने लगी है।

अकाल मृत्यु के चार कारणों में जब हम 'वेदों के अनभ्यास' पर विचार करते हैं– तो लगता है– यह कारण आज अक्षरशः विद्यमान है। अतः आजकल अकाल–मृत्यु की सङ्खया बहुत अधिक बढ़ गयी है। जिस वेद के लिए ''भूतं भव्यं भविष्य सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति'' कहा गया है अर्थात् वेद से भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों कालों की अदृश्य घटनाओं का ज्ञान सम्भव है– और जिसके लिए ऋषि–मुनियों ने यह नियम बना रखा था कि जो द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) वेद पढ़कर अन्य विषय में श्रम करता है; वह वंश सहित जीता–जागता शीघ्र ही शूद्र कोटि में गणना के योग्य हो जाता है।[13] दूसरे शब्दों में वह स्वयं अकाल मृत्यु का भाजन बन जाता है।

इस दृष्टि से यदि देखा जाये तो आज कितने द्विजात वेदज्ञ मिलेगे? कितनों ने साङ्ग वेद को पढ़कर अपने पूर्वजों के विद्या–भण्डार के रत्नों की चमक देखी? द्विजातियों की बात छोड़ भी दें, तो ब्राह्मणों में भी यह प्रश्न सटीक बैठेगा जिसका उत्तर कुछ अङ्कों में दिया जा सकेगा। वैसे बहुत से भारतवासी तो वेदों का नाम तक नहीं जानते।

एक समय था– जब ब्राह्मणों के लिए बिना कारण सोचे धर्म बुद्धि से छः अंगों सहित वेद पढ़ने और समझने का विधान था।[14] किन्तु आज वेद पढ़ने की चर्चा आते ही पेट की बात सामने आ जाती है और

उसकी ज्वाला इतनी प्रबल है कि उसकी ज्वाला बुझाने में ही सारा जीवन समाप्त हो जाता है फिर भी वह बढ़ती ही जाती है।

षडङ्गों के सहित अर्थज्ञान पूर्वक वेदों को पढ़कर उसके द्वारा अलौकिक विद्याओं को जानने वाला आजा भारत में कौन है? ऐसी परिस्थिति, यदि स्वयं अकाल मृत्यु का कारण बनती है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या? आश्चर्य तो तब होता– जब वेदाभ्यास सब जगह सदैव होता रहता और अकाल मृत्यु दीख जाती। वेदाभ्यास और उनके अर्थों का यथार्थ–ज्ञान तप के द्वारा ही सम्भव है और तप के सामने अकाल मृत्यु कहाँ से? यास्क के मत में तो बिना तप के मन्त्रों का यथार्थ ज्ञान हो ही नहीं सकता।[15] तत्त्वज्ञान के लिए एक जन्म क्या जन्म–जन्मान्तर तक ब्रह्मचर्य–पूर्वक वेदाभ्यास करते रहने का उदाहरण ब्राह्मणों में आया है।[16]

जब वेद–ज्ञान ही न रहा, तो धर्मज्ञान कहाँ से हो। और तब आचार का पालन क्यों न सूखे वृक्ष के समान हो जाये। जब आचार जानने का साधन जब वेद–शास्त्र ही छोड दिया गया, तब आचार–पालन, हो कहाँ से। हमारे पूर्वजों ने अनेकों वर्ष जंगलों में भटककर राज्य सुख से विमुख होकर जो सम्पत्ति प्राप्त की थी और परम करुणावश, उन्होंने जिसे हमे उपदेश के रूप में दिया था, उस सम्पत्ति को, उस रत्नराशि को हमने नादान लड़कों के समान कूड़े–कर्कट में फेंक दिया है। सैकड़ों वर्ष की खोज से वैज्ञानिकों ने जिन बातों को जान पाया है; उन्हें आचार के रूप में हमारे घरों में अशिक्षित स्त्रियाँ भी जानती हैं। यद्यपि हम अपने आचारों पर स्वयं हँसा करते हैं; किन्तु जब उन्हीं बातों को विदेशी वैज्ञानिकों के मुख से सुनते हैं तो सिर झुकाकर मान लेते हैं। गोबर का चौका, तुलसी का बिरवा अब फिर से लगाये जा रहे हैं। ब्रह्म–मूर्हूत्त में उठना, शौच, दन्त–धावन और नित्य स्नान आदि हमारे आचार के अङ्ग है; जिनका फल तो प्रत्यक्ष है, फिर भी कितने नवशिक्षित इसे निभाते हैं। इस प्रकार **''आचारस्य च वर्जनात्''** कही हुई यह मनूक्ति अकाल मृत्यु के दूसरे कारण के रूप में भी यहाँ पूर्णतया उपस्थित है; इसमें कोई सन्देह नहीं।

तीसरे हेतु 'आलस्य' के सम्बन्ध में क्या कहना। आज मद्य–मांसादि सेवन को धर्म के क्षेत्र से बाहर का समझा जाने लगा है। शास्त्रीय निर्णय तो यह था कि पुरुष जैसा अन्न खायेगा वैसा ही मन होगा– ''आनन्दमय् हि सौम्य! मनः।'' सात्त्विक कर्म और तामस अन्न से तामस मन, तामस विचार और तामस कर्म। अतएव शास्त्रों में भोजन में शुद्धि का बड़ा विवेक रखा था। शुद्ध कमाई का शुद्धिपूर्वक बनाया गया। शुद्ध अन्न भोजन करना विहित था। किन्तु आज न अन्न का विचार न कमाई का विचार, शुद्धि नाम की तो कोई चीज ही नहीं है। आज तो भक्ष्याभक्ष्य का विवेक वैज्ञानिक बुद्धि के लिए व्यर्थ का पचड़ा है।

वामन पुराण में सुकेशी से ऋषियों ने वर्ज्य और भोज्य अन्न के वर्णन के साथ–साथ उनकी शुद्धि का भी विधान बतलाया है।[17] पर्य्युषित (वासी) अन्न के भोजन का निषेध करते हुए घृत पक्व, तैल पक्व अन्न को

भोज्य माना है। अथवा सूखें भुने हुए चावल अथवा दूध से बनी हुई मिठाईयाँ भी बहुत दिनों तक बासी होने पर भी शुद्ध और भोज्य रहती हैं। इसी प्रकार द्विदल और व्यञ्जन के विकार भी शुद्ध माने गये हैं।[18]

''सम्भव–व्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणमर्थवत्'' के आधार पर ही शास्त्र, नियम निर्दिष्ट करते हैं। ऐसा कोई स्थल नहीं रहता जहाँ पर का नियम असम्भवदुक्तिक हो। गौ का दूध बहुत पवित्र माना गया है। किन्तु वह बछड़े का जूठा ही तो होता है। अधिकांश फल पक्षियों के उच्छिष्ट ही होते हैं। फिर भी शास्त्रकारों ने इन्हें पवित्रतम माना है। गाय को पेन्हाने में बछड़ा तथा फल को गिराने में पक्षी पवित्र माने गये हैं।[19]

शास्त्र का उपदेश प्रभु–सम्मित होता है। इस दृष्टि से अज्ञानवश दूषितान्न भोजन के लिए जहाँ त्रैरात्र उपवास के द्वारा शुद्धि का विधान है; वहीं ज्ञान–पूर्वक दूषितान्न भोजन करने पर अशक्य शुद्धि बतलाई गयी है।[20] आज विज्ञान ने जब यह सिद्ध कर दिया है कि कुत्ते के काटने पर चाटने पर यदि उसकी लार शरीर में नश द्वारा प्रविष्ट हो जाए तो प्राणों से हाथ धोना पड़ता है। फिर भी शिकारी कुत्ते को शिकार के समय शुद्ध माना गया है।[21]

इस प्रकार यदि इन चारों कारणों से अकाल मृत्यु का ताण्डव नृत्य समाने उपस्थित है तो हमें भी इन कारणों को दूर करने के लिए सोचना चाहिए।

अतः अकाल मृत्यु से मानव–विनाश को बचाने के लिए नियम–पूर्वक वेदाभ्यास, आचारों का पालन, कर्त्तव्यनिष्ठा के साथ निरालस्यभाव एवं ज्ञानपूर्वक अन्न दोषों का परिष्कार आवश्यक हो जाता है।

एतदर्थ शास्त्रों ने मानव–जीवन को चार आश्रमों में बाँटकर उन्हें पालन का उपदेश दिया है। इन आश्रमों के विहित आचरणों के द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति तो सुलभ होती ही है; समस्त मानव–समाज स्वस्थ और संतुलित रहता है। ये आश्रम ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के नाम से विदित है। ये चार परम निःश्रेयस–साधन चार सोपान हैं। जिनकी पहली सीढ़ी ब्रह्मचर्याश्रम यदि बिगड़ गयी तो अन्य सभी आश्रम (सोपान) अस्त–व्यस्त हो जाते हैं। अतः ब्रह्मचर्याश्रम के विषय में हमारे मनीषियों ने बहुत कुछ समझाया है। यह आश्रम व्यवस्था भी वर्ण–व्यवस्था पर आश्रित है। दोनों में प्रायः अन्योन्याश्रम भाव हैं। अतः एक की उपेक्षा कर दूसरे को नहीं देखा जा सकता।

यद्यपि इस व्यवस्था का पालन आज बहुत शिथिल दीख पड़ता है; तथापि आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व, पूर्णतया इनका पालन होता था। रघुवंश के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। उस समय चारों आश्रमों को विधिवत् पालन होता था। शैशवावस्था वेदाभ्यास के द्वारा विद्यार्जन का, युवावस्था गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर सभी प्रकार के सुखोपभोग का, अवस्था ढ़ने के समय वानप्रस्थाश्रम सुख–दुःख सहिष्णुता का तथा अन्तिमावस्था में संन्यासाश्रम–मोक्ष प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करते थे।[22]

गुरु के पास जाकर विद्या प्राप्त करने वाला प्रथमाश्रम ब्रह्मचर्य का था। जिसके लिए ऋषियों के आश्रम तपोवन ही उपयुक्त होते थे। जो शिक्षा के भी केन्द्र होते थे। परन्तु प्रत्येक के लिए गुरु के आश्रम में जाकर विद्या प्राप्त करना अनिवार्य नहीं था। कहीं–कहीं पिता भी पुत्र को शिक्षा देता था। जैसे– दिलीप ने रघु को धनुर्विधा की शिक्षा की थी।[23] पति–पत्नी को भी शिक्षा दिया करता था। इन्दुमती ने ललित कलाओं की शिक्षा अज से प्राप्त की थी।[24]

सन्दर्भ सूची

1 ''आश्रमो ब्रह्मचर्यादौ वानप्रस्थे वने मठे'' मे0को0

2 श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत।। – रघु0 2/2

3 चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं मण्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।। मनृ0 12/96

4 ब्रह्मचारी गृही वनप्रस्थो भिक्षुश्चतुष्ट्ये।। अ0को0 2/7/4

5 अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्निवनीयानुमतो गृहाय।
कालोह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते।। – रघु0 5/10

6 अनेन धर्मः सविशेषमद्य में त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भाविनि।
त्वया मनोनिर्विषयाऽर्थकामया यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते।। –कु0सं0 5/38

7 विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रस वर्जं.....।। गीता0 2/59

8 शैशवैऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्। वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।। रघु0 1/8

9, विवेश कश्चिद्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथां कु0सं0 5/30

10 अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय।
कालोह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकाररक्षममाश्रमं ते।। रघु0 5/10

11 अनभ्यासेन वेदानाभाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाश्च मृत्युर्विप्राञ्जिधांसति।। – मनु0 5/4

12 गायन्ति देवाः किल गीतकानि,
धन्यास्तु ते भारत–भूमि–भागे।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतु– भूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरव्वात् स्फुटक।

[13] योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।। मनु0, 2/168

[14] ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च। म0भा0प0

[15] ''नैतेषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा''– निरुक्त

[16] ब्राह्मणों में कथा है कि भरद्वाज ऋषि बाल्य, यौवन, जरा तीनों अवस्थाओं में वेद ही पढ़ते रहे और जब इन्द्र ने उनसे पूछा कि आप को चौथी अवस्था और मिले तो आप क्या करेंगे? उस पर भी उन्होंने यही उत्तर दिया कि ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाभ्यास करते ही उसे भी बिता दूंगा। पाँचवीं और मिलेगी तो वह भी वेद पढ़ने में ही जायेगी।
महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्म्मा चतुर्वेदी की श्री गीता प्रवचन माला, भाग–3, पुष्प–40, पृ0सं0 228 पर उद्धृत।

[17] यच्च वर्ज्यं महाबाहो सदा धर्म स्थितैर्नरैः।
यद् भोज्यं च समुदिष्टं कथयिष्यामहेवयम्।। वा0पु0 14/58

[18] भोज्यमन्नं पर्युषितं स्नेहाक्तं चिरसंभृतम्।
अस्नेहा ब्रीहयः श्लक्षणा विकाराः पयसस्तथा।। वहीं, 14/59
तद्वद् दि्ददलकादीनि भोज्यानि मनुरब्रवीत्। वहीं, 14/60

[19] मातुः प्रस्रवणे वत्सः शकुनिः फलपातने। वहीं, 14/72 (पूर्वाद्ध)

[20] उपवासं त्रिरात्रं वा दूषितान्नस्य भोजने।
अज्ञाते ज्ञातपूर्वेच नैव शुद्धिर्विधीयते।। वा0पु0 14/75

[21] गर्दमों भारवाहित्वे पूवा मृगग्रहणे शुचिः।। वहीं, 14/72 (उत्तरार्द्ध)

[22] शैशवेऽभ्यस्तविधानां यौवने विषयैषिणाम्।
बार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुव्यजाम्।। रघु0 1/8

[23] त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत्।
न केवलं तद्गुरुरेकपार्थिवः क्षितावभूदेकधनुर्धरोऽपि सः।। रघु0 3/31

[24] गृहिणी सचिवः सखीमिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे ह्रतम्।। वहीं, 8/67